समाजशास्त्र के साथ मानवीय संस्कृति तथा सभ्यता पर का अध्ययन

परिभाषा :-

समाज = मानवीय संस्कृति + सभ्यता ।

संस्कृति = पूर्णता के अर्थ में मानव के द्वारा की गई कृतियाँ ।

सभ्यता = मानव की एकरूपता के अर्थ में किया गया आचरण व व्यवहार ।

आधार :-

1. विकास के क्रम में मानव जीवन, जीवनीक्रम एवं जीवन का कार्यक्रम ।
2. अस्तित्व में अनुभूति के क्रम में या अर्थ में रचनात्मकता ।

अनिवार्यता :-

मानव जीवन के प्रकाशन में क्रिया-पूर्णता ।सतर्कता। आचरण पूर्णता ।सजगता। भावी एवं अभीष्ट है ।

प्रयोजन :-

1. मनुष्य में संवेदनशीलता एवं संज्ञानीयता का संतुलन होता है ।
2. मनुष्य में प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का संतुलित उदय होता है ।
3. मनुष्य संस्कारपूर्वक अभ्युदयशील होता है ।
4. सर्वतोमुखी विकास ही मनुष्य का समाधानवादी अथवा नियति क्रमवादी मार्ग प्रशस्त होना ।
5. विज्ञान व विवेक का संतुलन होना ।
6. जीवन मूल्य के अर्थ में व्यवहार-मूल्य, शिष्ट-मूल्य एवं व्यवसाय मूल्य का अर्पित, समर्पित एवं प्रायोजित होना ।

7. मानव मूल्य व चरित्र असंदिग्ध रूप में मान्वीय गुणों के आधार पर आचरण व्यवस्था अध्ययन सुलभ होना ।

8. मानव में, से, के लिए नैतिकता मानव धर्म एवं राज्य नीति से ध्रुवीकृत है । फलतः मानवीयतापूर्ण आचरण एवं व्यवहार का समीकृत होना ।

9. मानव जाति धर्म, कर्म के अर्थमशिक्षा, दीक्षा व्यवस्था व्यवहार सिद्ध होना ।

सुदूर विगत से ही शुभ के अर्थमसांस्कृतिक चिंतन एवं सभ्यता का प्रकाशन हुआ है । संपूर्ण संस्कृतियाँ किसी भौगोलिक परिस्थितियों के साथ आरंभ होकर विकसित होती रही है । तत्कालीन सीमा व्यापोशुभ के अर्थ में संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए उन-उन समुदाय के लिए आचार संहिता प्रस्तावित हुई है । यह जन-मान्स में अवतरित होने और परिस्थितियाँबदलने के साथ ही पूर्व धारणाओं में गुणात्मकता की अनिवार्यता सिद्ध हुई । इसका साक्ष्य इस धरती पर पाये जाने वाले अनेक उपदेश आचार-संहितायें और संविधान है । इस ऐतिहासिक सत्यता से स्पष्ट होता है कि शुभकअर्थ में ही मनुष्य प्रगतिशील एवं कल्याणकअर्थमें अभ्युदयशील है ।

बीसवीं शताब्दि में ऐतिहासिक परम्परा के रूप में चलती आ रही सभी संस्कृतियाँ एक दूसरे से मिलने व समझने वाली स्वर्णिम संभावनाएँ स्वयं आवश्यकता में अवतरित हुई है । परम्परा के रूप में आसन्न सभी प्रकार की समुदायता में वांछात्मक मधुरियता का स्थापित होना संभव नहीं हुआ, इसका साक्ष्य युद्ध और युद्धकी संभावनाएँ है ।

इस शताब्दी के मानव मिलन से पूर्व भी अपने-अपने सम्पर्क की सीमा में युद्ध एवं युद्ध संभावनाएँ बनी ही रहीं, जबकि युद्ध मानव को वांछित घटना या मानव के गुणात्मक विकास में सहायक नहीं है । फिर भी हम युद्ध करने के लिये सामरिक शक्ति को अस्तित्व का एक महत्वपूर्ण भाग मान लिये हैं । इन तथ्यों को ध्यान में लाने पर स्पष्ट होता है हम मान्वीय चेतना से परिपूर्ण नहीं हुए अथवा शिक्षा पूर्वक व्यवहार रूप नहीं दे पाये हैं । हम यदि विगत की चेतना स्त्रोत के संदर्भ में समीक्षा करें तो यह स्पष्ट है --

1. अध्यात्मक ।ईश्वरीय। चेतना
2. भगवद् ।अधि-भौतिक।चेतना
3. वस्तु एवं भोग चेतना अर्थात् भौतिकवादी चेतना के रूप में है ।

.. 3 ..

इन्हें ही क्रम से आध्यात्मिक, अधिभौतिक एवं भौतिक दर्शन, विचार अथवा चेतना कहा जाता है । अध्यात्म को चिंतन या निदिध्यासन की, भागवतीयता को पूजा उपासना एवं समर्पण की, भौतिकता का भोग, अतिभोग, बहुभोग, उपयोग, उत्पादन एवं वितरण की चेतना के अर्थ में प्रतिपादित पाठ पढ़ाया गया है । जबकि आध्यात्मिक बौद्धिक एवं भौतिकता ओत-प्रोत अस्तित्व है । ओत-प्रोत अस्तित्व का तात्पर्य कभी भी किसी भी स्थिति में पृथक न होने से है । इस स्थिति के मूल कारण को इस प्रकार स्पष्ट रूप में देखा जाता है । आध्यात्मक एवं अधिभौतिकवादी चिंतन प्रकृति के विकास को स्वीकारा नहीं अथवा आवश्यक नहीं समझा फलस्वरूप विकास का इतिहास जीवन-घटना जीवन पद तथा जीवनी क्रम में मानव उसकी प्रतिष्ठा और गुणात्मकता की संभावना स्पष्ट नहीं हो पाई । जबकि यही मानव संचेतना का मूल तत्व है । भौतिकवादी चिंतन चैतन्य प्रकृति के सन्दर्भ में अज्ञात रहा साथ ही आध्यात्म वैभव को स्पष्ट नहीं कर पाया, फलत: भौतिकवादी विचार पद्धति से भी मानव मानवीय चेतना एवं मानवीयता का वैभव स्पष्ट नहीं हो पाया । सह अस्तित्ववादी चिंतन में, आध्यात्म सत्ता में, सम्पृक्त प्रकृति,सत्ता में अनुभूत होने पर्यन्त विकासरत होने की नियति क्रम सत्यता को स्पष्ट करते हुए स्थिति पूर्ण अध्यात्म सत्ता में समाहित अनन्त क्रिया के रूप में स्थिति शील प्रकृति विश्लेषित हुई है । प्रकृति के विकास के क्रम में जड़ (रासायनिक व भौतिक) सीमावर्ती प्रकृति ही विकास पूर्वक चैतन्य पद में अधिष्ठित होने और जीवन पद प्रतिष्ठा को पाने की सत्यता प्रतिपादित हुई है । साथ ही वह चैतन्य इकाई गुणात्मक विकास पूर्वक ज्ञानावस्था अर्थात् मानव प्रकृति के वैभव के रूप में प्रकाशित होने की सत्यता स्पष्टतया आंकलित हुई है । इसी घटना से मानवीय संचेतना का अध्ययन संभव हुआ है । जो सार्वभौम रूप से शुभ के अर्थ में प्रस्तुत है ।

वर्तमान परिस्थितियाँ इस प्रकार बन चुकी है कि मानवीय संचेतनावादी रचनात्मकता को व्यवहार रूप देने के लिये अपरिहार्यता निम्न तथ्यों से स्पष्ट होती है --

1. टूटती हुई आस्थायें
2. मूल्यों का तिरस्कार
3. अवमूल्यन
4. चरित्र का पतन एवं अनिश्चयता ।

.. 4 ..

नस्ल जाति और सम्प्रदायों पर आधारित आस्थाएँ दूसरे समुदायों के साथ टकराने की स्थिति में और किसी त्यौहार पर्व पर एकत्रित होने के रूप में देखा जाता है । ऐसी कोई नस्ल, जाति या सम्प्रदाय नहीं है जो अपने ही समुदाय की परम्परा में सभी संभव अपराधों को न किया हो । इस समस्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य ने परिवार सीमा में भी कटुता व विरोध और द्रोह व विद्रोह का परिचय दिया है । किसी भी नस्ल, जाति, रंग एवं सम्प्रदाय ने अपने ही समुदाय की सीमा में सह अस्तित्व और अभयता का पूर्ण परिचय नहीं दे पाया है । अस्तु उक्त प्रकार की आस्थाओं में मनुष्य के जिये आवश्यकीय सभी कोण, आयाम, दिशा, परिपेक्ष्य में सह अस्तित्व चेतना का प्रभावशील होना सिद्ध नहीं हुआ फलतः अनास्था स्वाभाविक रही साथ ही आस्थाओं पर आधारित चरित्र एवं मूल्यों का पतन भावी हो गया । फलतः व्यक्तिगत रूप में प्राप्त प्रतिभा की अवहेलना और व्यक्तित्व की उपेक्षा हुई । । यही कुंठा, निराशा, उद्दंडता, छल, कपट, एवं पाखंड में परिणित हुई । राहत की अपेक्षा में अतिभोग व बहुभोग की प्रवृत्तियाँ बढ़ी और अपराधों की संख्या में वृद्धि होती गई ।

हम इन सबका समाधान चाहते हैं । समाधान समृद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व ही हमारा लक्ष्य है न कि समस्या । इसे पाने के लिए केवलमानवीय संचेतनावादी शिक्षा-दीक्षा एवं संस्कार तदनुरूप व्यवहार एवं व्यवस्था ही एक मात्र उपाय है ।

"मानव संस्कारपूर्वक अभ्युदयशील है ।" मानव में त्रिस्तरीय संस्कारों का प्रकाशन होता है ।

मानव की परिभाषा सहित अमानवीयता, मानवीयता एवं अतिमानवीयता के व्यवहारिक चित्र का आधार निम्न प्रकार है :-

मानव की परिभाषा =

मनाकार को साकार करने वाला
मन:स्वस्थता का आशावादी=मानव

अमानवीय दृष्टि =

प्रियाप्रिय, हिताहित, लाभालाभ
सीमावर्ती क्रियाशीलता ।

स्वभाव =

दीनता। विश्वासघात। दीनता एवं क्रूरता

विषय- प्रवृत्ति =

आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन। इन सीमाओं में होने वाले संपूर्ण कार्य व्यवहार में से, क्रूरता प्रधान मनुष्य को राक्षस मनुष्य, दीनता प्रधान मनुष्य को पशु मनुष्य के नाम से जाना जाता है।

मानवीय दृष्टि =

न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य वादी, प्रियाप्रिय, हिताहित एवं लाभालाभकारी दृष्टियों की क्रियाशीलता।

स्वभाव =

धीरता, वीरता एवं उदारता

विषय प्रवृत्ति = पुत्रैषणा, वित्तैषणा एवं लोकैषणा।

अतिमानवीय देव दृष्टि = धर्माधर्म, सत्यासत्य।
स्वभाव = वीरता, उदारता और दया।
विषय = मात्र लोकैषणा।

अतिमानवीय दिव्य दृष्टि = सत्यात्मक दृष्टि की पूर्णक्रियाशीलता पूर्ण जागृति।
स्वभाव = दया, कृपा, करुणा।
विषय = परमात्मा। ईश्वर।